International Journal for Multidisciplinary Research (IJFMR)
E-ISSN: 2582-2160 ● Website: www.ijfmr.com ● Email: editor@ijfmr.com

सहकारी से प्रतिस्पर्धात्मक संघवाद: भारतीय केंद्र-राज्य संबंधों में क्षेत्रीय पहचान की भूमिका

निखिल कुमार[1], **प्रियंका कुमारी**[2]

[1]शोधार्थी, राजनीति विज्ञान विभाग, महात्मा गांधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, मोतीहारी, बिहार
[2]शोधार्थी, बाबासाहेब भीमराव अम्बेदकर बिहार विश्वविद्यालय, मुजफ्फरपुर

सारांश

भारतीय संघवाद के विकास क्रम में एक बड़ा बदलाव आया है। योजना आयोग के दौर के सहकारी ढांचे से हटकर वर्तमान समय, विशेष रूप से वर्ष 2014 के बाद से प्रतिस्पर्धात्मक संघवाद की ओर झुकाव बढ़ा है। यह शोध पत्र इस बदलाव में क्षेत्रीय अस्मिता की भूमिका का विश्लेषण करता है। पारंपरिक रूप से क्षेत्रवाद को राष्ट्रीय एकता के लिए चुनौती माना जाता रहा है, किन्तु यह शोध पत्र तर्क देता है कि क्षेत्रीय पहचान अब एक आर्थिक और राजनीतिक संपत्ति बन गई है। राज्य अब निवेश और केंद्रीय धन को आकर्षित करने के लिए अपनी भाषाई और सांस्कृतिक पहचान का उपयोग कर रहे हैं। यह शोध पत्र केंद्र-राज्य संबंधों का विश्लेषण करते हुए यह दर्शाता है कि कैसे उप-राष्ट्रीयता राज्यों के बीच स्वस्थ प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा देती है। इसके साथ ही, यह उन चुनौतियों पर भी प्रकाश डालता है जो वित्तीय आवंटन और उत्तर-दक्षिण भारत के बीच के अंतर को लेकर उत्पन्न हो रही हैं। निष्कर्षत यह पत्र सुझाव देता है कि प्रतिस्पर्धात्मक संघवाद की सफलता के लिए क्षेत्रीय स्वायत्तता का सम्मान और संतुलित विकास अनिवार्य है।

मुख्य शब्द: प्रतिस्पर्धात्मक संघवाद, क्षेत्रीय अस्मिता, केंद्र-राज्य संबंध, नीति आयोग, उप-राष्ट्रीयता, वित्तीय संघवाद।

प्रस्तावना

भारतीय गणतंत्र में संघवाद की परिकल्पना भारत के ऐतिहासिक क्षणों में की गई थी। भारत ने विभाजन से उपजी त्रासदी से बाहर आते हुए, भारत की संविधान सभा के द्वारा पूर्ण संघीय स्वायत्तता को अपनाने की बजाय राष्ट्र की एकता और स्थिरता को प्राथमिकता प्रदान की। इसके परिणामस्वरूप, भारतीय संविधान के अनुच्छेद 1 के तहत भारत को एक फेडरेशन के रूप में परिभाषित ना करते हुए राज्यों के संघ के रूप में परिभाषित किया गया। डॉ. बी.आर. अंबेडकर के द्वारा इस शब्द के चुनाव के पीछे यह तर्क प्रस्तुत किया गया, कि भारतीय संघ विभिन्न इकाइयों के बीच किसी समझौते का परिणाम नहीं था, और इसमे किसी भी घटक राज्य को इससे अलग होने की स्वतंत्रता प्राप्त नहीं है (संविधान सभा बहस, 1948)। इस अनूठी व्यवस्था के कारण ही के.सी. व्हियर (1964) जैसे संवैधानिक विद्वानों के द्वारा भारत को अर्ध-संघीय संघवाद के रूप में वर्णित किया गया, यह एक ऐसी प्रणाली थी जो भावना में एकात्मक थी, किन्तु संरचना में संघीय थी। ग्रानविले ऑस्टिन (1966) के द्वारा भारतीय संविधान पर किए गए अपने मौलिक कार्य में भारतीय संघवाद की व्यवस्था को सहकारी संघवाद के रूप में दिखाया गया, जिसमे केंद्र और राज्य दोनों से राष्ट्र के विकास की मशीनरी में परस्पर जुड़े पहियों की तरह कार्य करने की आशा की गई थी। पंडित नेहरू के समय सर्वसम्मति के सिद्धांतों के अनुसार यह सहयोग काफी हद तक पदानुक्रमित था। केंद्र सरकार ने अवशिष्ट शक्तियों और योजना आयोग जैसी संस्थाओं की सहायता से भारत राष्ट्र की आर्थिक नियति को बनाने वाले के रूप में कार्य किया। भारत में भाषाई, सांस्कृतिक, जातीय और क्षेत्रीय पहचानों को प्रारंभ से ही संदेह की दृष्टि से देखा जाता था, और इन्हे विखंडनकारी प्रवृत्तियों के रूप में समझा जाता था, जो भारतीय संघ के एक साथ बने रहने के लिए एक खतरे के समान थी (स्टेपन, 1999)। हालाँकि, भारत में संघवाद का रास्ता कभी भी स्थिर नहीं रहा है। पिछले सात दशकों में, भारतीय राजनीति में लगातर बड़े बदलाव

आ रहे है। इसे कांग्रेस प्रणाली (कोठारी, 1964) के अनुसार केंद्र के प्रभुत्व से गठबंधन राजनीति के खंडित युग में, और वर्तमान समय में प्रतिस्पर्धात्मक संघवाद के समकालीन प्रतिमान की ओर बढ़ा है (अय्यर और टिलिन, 2020)।

समस्या कथन और अनुसंधान अंतराल

एनडीए और भाजपा के उदय और भारतीय चुनावों की लगातार बदलती प्रकृति पर भरपूर साहित्य के प्रसार के बाद अभी भी इस विषय पर अपर्याप्त अकादमिक जांच है कि प्रतिस्पर्धात्मक संघवाद में (रैंकिंग, प्रोत्साहन-आधारित अनुदान, जीएसटी परिषद की सौदेबाजी) क्षेत्रीय पहचान की भावना को किस प्रकार से देखा जाता है। अधिकांश अध्ययनों में हमे विकास और पहचान अलग-अलग क्षेत्रों के रूप में दिखाई पड़ते है जिसमे एक पक्ष तकनीकी है तथा दूसरा भावनात्मक पक्ष को दर्शाता है। प्रस्तुत शोध-पत्र उस अंतर को समाप्त करने प्रयास करता है। इसमे यह माना गया है, कि वर्तमान समय का केंद्र और राज्यों के बीच का संघर्ष, (जो पश्चिम बंगाल एवं केंद्र सरकार, उत्तर-दक्षिण के बीच वित्त विभाजन और जाति जनगणना की मांग में यह दिखाई देता है) प्रतिस्पर्धी दक्षता के लिए केंद्र और पहचान संरक्षण के लिए राज्यों के बीच टकराव का सीधा परिणाम है। इससे केंद्रीय प्रश्न यह सामने आता है, कि सहकारी संघवाद से प्रतिस्पर्धात्मक संघवाद में संक्रमण में क्षेत्रीय पहचान कैसे कार्य करती है, और क्या यह भारतीय संघवाद में होने वाली प्रतिस्पर्धा भारतीय लोकतंत्र को 'रेस टू द बॉटम' (गिरावट की दौड़) या 'रेस टू द टॉप' (उत्कर्ष की दौड़) की ओर ले जाती है?

अध्ययन के उद्देश्य

इस शोध पत्र का उद्देश्य दो प्राथमिक लक्ष्यों को समझना है:

1. पहचान की राजनीति के लेंस के माध्यम से केंद्र-राज्य संबंधों के ऐतिहासिक पथ का पता लगाना।
2. राष्ट्रीय एकता के लिए प्रतिस्पर्धात्मक संघवाद द्वारा उत्पन्न चुनौतियों विशेष रूप से उत्तर-दक्षिण विभाजन का गंभीर रूप से मूल्यांकन करना।

ऐतिहासिक संदर्भ: भारतीय संघवाद का विकास

भारतीय संघवाद की वर्तमान समय तक की यात्रा एक समान नहीं रही है, यह राजनीतिक सत्ता के समीकरणों और क्षेत्रीय अस्मिता के विषय के उभार के साथ लगातार विकसित हुई है। सहयोग और प्रतिस्पर्धा संघवाद के बीच वर्तमान तनाव को जानने के लिए भारतीय राजनीति के ऐतिहासिक क्षेत्रीयकरण को समझना बहुत ही आवश्यक है। भारत की आजादी के बाद से लेकर वर्तमान कालखंड को मुख्य रूप से चार चरणों में विभाजित किया जा सकता है। ये चरण सहकारी संघवाद से प्रतिस्पर्धात्मक संघवाद की बढ़ते संक्रमण को दर्शाते हैं।

1. प्रथम चरण: एकदलीय प्रभुत्व और केंद्रीकृत संघवाद (1950–1967)

स्वतंत्रता के बाद के पहले दो दशकों में केंद्र और अधिकांश राज्यों में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सत्ता में होने के कारण वास्तविक रूप में एक एकात्मक प्रणाली का निर्माण किया था। भारतीय संघवाद में इसे कांग्रेस प्रणाली के रूप में देखा जाता है, जहाँ केंद्र और राज्यों में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का वर्चस्व था (कोठारी, 1964)। इस समय पर विवादों को संवैधानिक तंत्र के अनुसार ना करके पार्टी संरचना के भीतर ही हल कर लिया जाता था (मोरिस-जोन्स, 1967)। इसी दौर में योजना आयोग की स्थापना की गई थी, जो केंद्र-राज्यों के बीच संबंधों की एक मुख्य धुरी बन गया। योजना आयोग के द्वारा ऊपर से नीचे के सिद्धांत को अपनाया गया। इसके अनुसार राज्यों की भूमिका केवल केंद्रीय योजनाओं को लागू करने तक सीमित थी (चंदा, 1965)। हालाँकि, इसी समय क्षेत्रीय अस्मिता का पहला बड़ा विद्रोह प्रारंभ हुआ। 1956 में भाषा के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन किया गया, जिसके अनुसार आंध्र प्रदेश, केरल, मैसूर आदि का निर्माण किया गया। भारतीय संघवाद में यह क्षेत्रीय अस्मिता की पहली सबसे बड़ी जीत थी। इस घटना के कारण यह कहा जा सकता है, कि सांस्कृतिक और भाषाई अस्मिता प्रशासनिक केंद्रीयकरण पर भारी पड़ सकती है (सारंगी, 2016)। इसके बावजूद वित्तीय और नीतिगत मामलों में केंद्र सरकार का नियंत्रण मजबूती से बना रहा। योजना आयोग के द्वारा ही राज्यों में संसाधनों के बंटवारे को नियंत्रित किया गया। योजना आयोग ने राष्ट्रीय योजना को लागू करने के लिए एक ही नीति सब पर लागू करते समय क्षेत्रीय पारिस्थितिक तंत्र की आवश्यकताओं की अनदेखी की (चंदा, 1965)।

2. द्वितीय चरण: संघर्ष और क्षेत्रीय दलों का उदय (1967–1989)

1967 के आम चुनावों के बाद से भारतीय संघवाद में एक महत्वपूर्ण मोड़ आया, इस समय पर कांग्रेस कई राज्यों में चुनाव हार गई। यही वह समय था जब क्षेत्रीय अस्मिता राजनीतिक रूप से सक्रिय होना प्रारम्भ हो गई। तमिलनाडु राज्य में डीएमके का उदय और पंजाब में अकाली दल की सक्रियता ने केंद्र सरकार की एकाधिकारवादी प्रकृति को चुनौती पेश की (हार्डग्रेव, 1984)। इसके परिणामस्वरूप प्रतिक्रिया के रूप में 1970 के दशक में केंद्र सरकार विशेषकर इंदिरा गांधी के द्वारा अपनी शक्तियों का आक्रामक तरीके से उपयोग किया गया। इस दौर में केंद्र सरकार के द्वारा अनुच्छेद 356 का बार-बार दुरुपयोग करके विपक्षी राज्य में सरकारों को बर्खास्त किया जाने लगा। जिसके कारण केंद्र-राज्य संबंधों में टकराव की स्थिति उत्पन्न हो गई (दुआ, 1979)। केंद्र और राज्यों में बढ़ते विवाद को देखते हुए और इसे कम करने के लिए 1983 में सरकारिया आयोग का गठन किया गया। इस आयोग के द्वारा अपनी अनुशंसा में यह विचार पेश किया कि अत्यधिक केंद्रीकरण राष्ट्रीय अखंडता के लिए हानिकारक है और राज्यों को अधिक स्वायत्तता प्रदान की जानी चाहिए (सरकरिया कमीशन रिपोर्ट, 1988)।

3. तृतीय चरण: बहुदलीय गठबंधन और उदारीकरण (1989–2014)

1990 का दशक भारतीय संघवाद के लिए प्रतिमान के बदलने का दशक था। कांग्रेस प्रणाली के पतन हो जाने और गठबंधन युग के आगमन के कारण संघीय संतुलन पूरी तरह से बदल दिया। इस समय पर तीसरी चुनावी प्रणाली सामने आई, जिसमें द्रविड़ मुनेत्र कड़गम, समाजवादी पार्टी और तेलुगु देशम पार्टी आदि क्षेत्रीय दलों का उदय हुआ (यादव, 1999)। केंद्र में स्पष्ट बहुमत के अभाव होने और गठबंधन सरकारों के आने से क्षेत्रीय पार्टियों वाले राज्य जैसे उत्तर प्रदेश, बिहार, और तमिलनाडु के नेताओं ने केंद्र सरकार को बनवाने में अपनी भूमिका निभाई। इसे सौदेबाजी का संघवाद कहा गया (अरोड़ा, 2010)। इस दौर में क्षेत्रीय और सांस्कृतिक पहचान राजनीतिक सौदेबाजी के साधन में परिवर्तित हो गई। अब क्षेत्रीय नेताओं ने केंद्र में सरकार को बनाने की शक्ति के साथ, कमजोर केंद्र सरकारों से अपने लिए वित्तीय रियायतें और कैबिनेट मंत्री के पद प्राप्त करने के लिए अपनी स्थानीय पहचान का लाभ उठाया (अरोड़ा, 2010)। इसके अलावा 1991 में आर्थिक उदारीकरण के आने के कारण लाइसेंस राज को समाप्त कर दिया गया। इसके परिणामस्वरूप औद्योगिक अनुमति प्रदान करने पर केंद्र की पकड़ ढीली हो गई। इससे सभी राज्यों के मुख्यमंत्रियों ने केंद्र सरकार को दरकिनार करने के साथ-साथ सीधे विदेशी निवेश को अपने राज्य में आने की अनुमति प्रदान की, इसी से राज्यों के बीच प्रतिस्पर्धा के शुरुआती बीज बोए गए (सिन्हा, 2005; साएज़, 2002)। असीमा सिन्हा (2005) ने यह तर्क प्रस्तुत किया है, कि इस चरण में भारत प्रतिस्पर्धी क्षेत्रवाद की ओर चला गया, जहाँ मुख्यमंत्रियों के द्वारा अपने राज्यों को वैश्विक बाजार में ट्रेडमार्क के रूप में पेश करना शुरू किया।

4. चतुर्थ चरण: प्रतिस्पर्धात्मक संघवाद और नीति आयोग (2014–वर्तमान)

वर्ष 2014 के बाद एनडीए गठबंधन के अंतर्गत प्रधान मंत्री नरेंद्र मोदी के नेतृत्व में भारतीय संघवाद ने एक नया रूप धारण कर लिया है। जिसे औपचारिक रूप से प्रतिस्पर्धात्मक संघवाद कहा गया है। भारत में वर्ष 2015 में योजना आयोग को समाप्त करके केंद्र सरकार के द्वारा नीति आयोग की स्थापना की गई है। नीति आयोग का मुख्य लक्ष्य राज्यों के बीच स्वास्थ्य, शिक्षा, और जल प्रबंधन आदि मानकों पर प्रतिस्पर्धा को बढ़ावा देना है (सिंह, 2016)। इसके अंतर्निहित विचार के अनुसार राज्यों को निवेश और दक्षता के लिए प्रतिस्पर्धा करते हुए लोकतंत्र की प्रयोगशालाओं के रूप में कार्य करना चाहिए (विश्व बैंक, 2017)। इस चरण में, केंद्र सरकार के द्वारा जीएसटी को लागू करने से भारत एक एकीकृत बाजार बन गया है, जिसके कारण राज्यों की कराधान में स्वायत्तता को बहुत हद तक कम हो गई है और यह केंद्र और राज्यों के बीच नए संघर्ष के रूप में सामने आ रहा है (रेड्डी, 2020)। वर्तमान समय में सभी राज्य अपनी क्षेत्रीय अस्मिता का उपयोग केवल सांस्कृतिक गौरव को दिखाने के लिए ही नहीं कर रहे है। इसके स्थान पर वे इसका उपयोग बेहतर प्रदर्शन करने और केंद्र से वित्तीय प्रोत्साहन को पाने के लिए कर रहे हैं। वर्तमान समय में हम एक तरफ राजनीतिक रूप से केंद्रीकरण और दूसरी तरफ आर्थिक रूप से प्रतिस्पर्धा दोनों को एक साथ देख रहे हैं, यही भारतीय संघवाद की एक अनूठी विरोधाभासी स्थिति है (अय्यर और टिलिन, 2020)।

सहकारी संघवाद से प्रतिस्पर्धा संघवाद तक

भारतीय संघवाद में प्रतिस्पर्धात्मक संघवाद की अवधारणा पश्चिमी देशों में प्रयोग की जाने वाली अवधारणा से बिल्कुल अलग है। संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रतिस्पर्धात्मक संघवाद शब्द का प्रयोग अक्सर अधिकार क्षेत्र के लिए केंद्र सरकार और राज्यों के बीच होने वाली प्रतिस्पर्धा के रूप में

किया जाता है (डाई, 1990)। हालाँकि भारत में इसका उपयोग क्षैतिज प्रतिस्पर्धा को दिखाने के लिए किया जाता है, जिसमे राज्य सरकारे निजी पूंजी (प्रत्यक्ष विदेशी निवेश और घरेलू निवेश) और केंद्र से वित्तीय प्रोत्साहन को प्राप्त करने के लिए एक-दूसरे से प्रतिस्पर्धा करते हैं।
वैश्वीकरण के कारण भारतीय राज्य एक विभाजित लेवियाथन में बदल दिया। जिसमे क्षेत्रीय अभिजात वर्ग वैश्विक अर्थव्यवस्था के साथ अपने आप को जोड़ने के लिए विशिष्ट लाभों का उपयोग करते हैं (असीमा सिन्हा, 2005)। इस परिवर्तन के आने से क्षेत्रीय पहचान अब एक आर्थिक संपत्ति के रूप में बदल गई है। हमारे सामने गुजरात मॉडल, केरल मॉडल या द्रविड़ मॉडल केवल शासन की शैलियाँ नहीं हैं। ये राज्य के द्वारा अपनी क्षेत्रीय अस्मिता की पहचान के लिए उपयोग किए जाने वाले ट्रेडमार्क हैं। उदाहरण के लिए देखे तों, तमिलनाडु अपने सामाजिक न्याय आंदोलनों की अपनी द्रविड़ पहचान के इतिहास का लाभ उठा कर अपने आप को एक कुशल और समान कार्यबल का दावा करता है, जिसकी सहायता से विनिर्माण के दिग्गज आकर्षित होते हैं (वायट, 2013)। इसी के आधार पर, पूर्वोत्तर के राज्य पर्यटकों को आकर्षित करने और केंद्र सरकार से विशेष श्रेणी का दर्जा बनाए रखने के लिए अपनी जैव विविधता और सांस्कृतिक विरासत का उपयोग करते हैं (हाओकिप, 2012)। हालाँकि, अगर देखा जाए तों यह प्रतिस्पर्धा विरोध से मुक्त नहीं है। इसका प्रमुख कारण सहकारी केंद्र-राज्य से प्रतिस्पर्धी बाजार संबंध में परिवर्तन करने के लिए सभी राज्यों को समान अवसर की आवश्यकता होती है, किन्तु भारत में क्षेत्रीय असमानताओं के होने के कारण भारत में समान अवसर प्राप्त नहीं होते है। पहचान और असमानता का आपसी संबंध केंद्र-राज्य के संबंधों को तनाव की ओर लाता है।

क्षेत्रीय अस्मिता की राजनीतिक अर्थव्यवस्था

मौजूदा साहित्य अवलोकन में वित्तीय संघवाद (राव और सिंह, 2005; रेड्डी, 2020) और नीति आयोग की प्रशासनिक बारीकियों (मूइज, 2017) को बड़े विस्तार से बताया गया है, किन्तु इसे समझने का प्रयास नहीं किया गया है,कि पहचान की राजनीति, प्रतिस्पर्धी संघवाद में किस प्रकार कार्य करती है। अर्थशास्त्रियों के द्वारा पहचान को बाजार एकीकरण में बाधा के रूप में देखा जाता है। प्रस्तुत शोध पत्र उस विचार का खंडन करता है, यह तर्क प्रस्तुत करता है, कि भारत में, पहचान वह प्राथमिक तंत्र है जिसकी सहायता से संघीय प्रतिस्पर्धा पर बातचीत की जाती है। प्रतिस्पर्धात्मक संघवाद में क्षेत्रीय पहचान एक संरक्षणवादी कवच के रूप में कार्य करती है। भारत में जैसे-जैसे केंद्र सरकार सभी नीतियों वन नेशन-वन मार्केट (जीएसटी) या वन नेशन-वन राशन कार्ड आदि की सहायता से एकरूपता पर जोर दे रही है। इससे बचने के लिए और राज्य अपनी स्वायत्तता को बनाए रखने के लिए क्षेत्रीय उप-राष्ट्रीयता का उपयोग करते हैं। यह स्थानीय लोगों के लिए नौकरी में आरक्षण के संबंध में, कर्नाटक के भाषाई राष्ट्रवाद आदि में स्पष्ट है। इसके अलावा दक्षिणी राज्यों केरल, तमिलनाडु, तेलंगाना वित्तीय बंटवारे में 15वें वित्त आयोग की शर्तों का विरोध कर रहे थे। उनका यह कहना था, कि यह उन राज्यों को दंडित करने के समान है, जिन राज्यों ने अपनी जनसंख्या वृद्धि को सफलतापूर्वक नियंत्रित किया है और यह उनकी प्रगतिशील क्षेत्रीय पहचान का एक प्रमुख विषय है (झा, 2018; राजन, 2019)। इससे यह सिद्ध होता है कि सहकारी संघवाद से प्रतिस्पर्धात्मक संघवाद की ओर होने वाले बदलाव ने क्षेत्रीय पहचान को कमजोर नहीं किया है, इसने इसे मजबूत किया है। प्रभावी ढंग से प्रतिस्पर्धा करने के लिए, प्रत्येक राज्य को अपनी एकजुट आंतरिक पहचान सामने रखना होगा। रूडोल्फ और रूडोल्फ (2001) के अनुसार संघीय बाजार अर्थव्यवस्था की घटना के आधार पर यह समझा जा सकता है, कि मुख्यमंत्री अपने राज्यों के सीईओ के रूप में कार्य करते हैं और नौकरशाहों और मतदाताओं को आर्थिक लक्ष्यों की ओर एकजुट करने के लिए वे क्षेत्रीय गौरव का उपयोग करते हैं।

प्रतिस्पर्धात्मक संघवाद के समक्ष चुनौतियां

प्रतिस्पर्धात्मक संघवाद के कारण भारतीय राज्य आर्थिक विकास के लिए सक्रिय तो हुए है, किन्तु इससे केंद्र और राज्यों के बीच संरचनात्मक संघर्षों का भी जन्म हुआ है। राज्यों की क्षेत्रीय अस्मिता का टकराव जब केंद्र सरकार की केंद्रीय एकरूपता से होता है, तो भारतीय लोकतंत्र के सामने विभिन्न गंभीर चुनौतियां सामने आती हैं।

- **वित्तीय संघवाद में संघर्ष: उपकर और विभाजन (Fissures in Fiscal Federalism)**
  प्रतिस्पर्धात्मक संघवाद की सबसे बड़ी चुनौती में से एक संसाधनों का वितरण है। भारतीय संविधान राज्यों को वित्तीय स्वायत्तता का वादा तों करता है, लेकिन हाल के वर्षों में इसमें भारी गिरावट देखी जा सकती है। 15वें वित्त आयोग के द्वारा धन के आवंटन के लिए 1971 के बजाय 2011 की जनगणना का उपयोग करने के निर्णय के कारण उत्तर-दक्षिण विवाद सामने आया है। अनेक विद्वानों का इस विवाद के पीछे तर्क यह

है, कि यह आवंटन दक्षिणी राज्यों केरल, तमिलनाडु के लिए एक जनसांख्यिकीय दंड है, जिन राज्यों ने अपनी प्रगतिशील क्षेत्रीय पहचान के अनुसार जनसंख्या नियंत्रण और शिक्षा में अधिक निवेश किया (अरविंद सुब्रमण्यम, 2019)। वे इसे उत्तर भारत के पिछड़े राज्यों को सब्सिडी देने के रूप में देखते हैं। आरबीआई के पूर्व गवर्नर वाई.वी. रेड्डी (2020) के अनुसार केंद्र सरकार ने अपने राजस्व की प्राप्ति का एक बड़ा हिस्सा उपकर और अधिभार की सहायता से जुटाना प्रारंभ कर दिया है। संविधान के अनुसार, केंद्र को इसे राज्यों के साथ बांटने की आवश्यकता नहीं होती है। यद्यपि इसमे से वित्त आयोग के द्वारा राज्यों का हिस्सा 41% तय किया है, लेकिन वास्तविक हस्तांतरण 30% के आसपास हो पा रहा है। यह राजकोषीय केंद्रीयकरण राज्यों में विकास योजनाओं को चलाने की क्षमता को सीमित करता है।

- **परिसीमन 2026: आसन्न राजनीतिक संकट**

  क्षेत्रीय अस्मिता के लिए आने वाला सबसे बड़ा खतरा भविष्य में दिखाई पड़ रहा है। 2026 में लोकसभा सीटों के परिसीमन पर लगी रोक हटने वाली है। इस परिसीमन में यदि सीटों का पुनर्वितरण केवल जनसंख्या के आधार पर किया जाता है, तो हिंदी भाषी उत्तरी राज्यों विशेष रूप से यूपी और बिहार को लोकसभा में भारी बढ़त मिलेगी। इसके अलावा दक्षिणी राज्यों की हिस्सेदारी लोकसभा में बहुत कम हो जाएगी (वैष्णव & हिंटसन, 2019)। यह केवल सीटों के लिए ही नहीं है, बल्कि यह क्षेत्रीय अस्मिता के भी अस्तित्व का संकट है। यदि दक्षिण भारत की राजनीतिक शक्ति संसद में कमजोर होती है, तो यह उप-राष्ट्रीय असंतोष का उदय हो सकता है, जो राष्ट्रीय एकता के लिए बहुत ही खतरनाक है। राज्यों में क्षेत्रीय दल इसे अपनी भाषा और सांस्कृतिक पहचान पर बहुसंख्यकवाद के हमले के रूप में देख सकते हैं।

- **संस्थाओं के बीच संघर्ष: राज्यपाल और केंद्रीय एजेंसियां (Institutional Friction)**

  प्रतिस्पर्धात्मक संघवाद को सही एवं सुचारू रूप से चलाने के लिए तटस्थ मध्यस्थों की जरूरत होती है, किन्तु हाल के वर्षों में संस्थागत ढांचा कमजोर होता हुआ दिखाई पड़ता है। इसे हम राज्यपाल की भूमिका और संस्थाओं का केंद्र द्वारा उपयोग के आधार पर समझ सकते हैं। जेम्स मैनर (2016) के अनुसार विपक्षी दलों द्वारा शासित राज्यों में राज्यपाल की भूमिका वर्तमान समय में संवैधानिक प्रमुख के स्थान पर केंद्र के एजेंट के रूप में दिखाई पड़ती हैं। पश्चिम बंगाल, तमिलनाडु और केरल में राज्यपालों द्वारा विधेयकों को रोकने या राज्य प्रशासन की आलोचना करने की घटनाओं के कारण सहकारी संघवाद की भावना का ह्रास हुआ है। इसके अलावा क्षेत्रीय दलों के द्वारा केंद्र सरकार पर यह आरोप लगाया जाता है कि सीबीआई और ईडी जैसी केंद्रीय एजेंसियों का उपयोग क्षेत्रीय नेताओं को निशाना बनाने के लिए किया जा रहा है, जिससे घेराबंदी की मानसिकता पैदा होती है। यह केंद्र और राज्यों के बीच पनपा अविश्वास किसी भी सार्थक संवाद को रोकता है (अय्यर और टिलिन, 2020)।

निष्कर्ष (Conclusion)

इस शोध पत्र का विश्लेषण यह विचार रखता है, कि भारत में सहकारी से प्रतिस्पर्धात्मक संघवाद की ओर संक्रमण एक सीधी रेखा में नहीं हुआ है, बल्कि यह संघर्ष और बातचीत की एक जटिल प्रक्रिया है। यह केंद्र के नियंत्रण और सहकारी संघवाद से विकसित होकर समकालीन प्रतिस्पर्धात्मक संघवाद की ओर बढ़ रहा है। इस विकास में क्षेत्रीय अस्मिता ने सिर्फ एक सांस्कृतिक अवशेष की भूमिका ना निभाकर, एक सक्रिय और निर्णायक आर्थिक संसाधन के रूप में सामने आई है। पारंपरिक रूप से भारतीय राजनीति में क्षेत्रीय पहचान को राष्ट्रीय एकता के लिए एक खतरे और विखंडनकारी शक्ति के रूप पेश किया जाता था। हालाँकि, यह शोधपत्र यह तर्क रखता है कि वैश्वीकरण और उदारीकरण के बाद से भारत में क्षेत्रीय अस्मिता का रूपांतरण हुआ है। इसमे गुजरात का उद्यमी मॉडल हो या तमिलनाडु का द्रविड़ कल्याणकारी मॉडल, सभी राज्य अब वर्तमान समय में अपनी विशिष्ट भाषा और सांस्कृतिक पहचान का उपयोग करके वैश्विक पूंजी और केंद्रीय संसाधनों को आकर्षित करने के लिए इसे अपनी पहचान के रूप में सामने रखते हैं। इससे यह समझा जा सकता है, कि उप-राष्ट्रीयता अब अलगाव का कारण नहीं, बल्कि देश के विकास में एक प्रेरक शक्ति बन गई है।

हालाँकि, यह शोध पत्र इस विषय को भी देखता है कि प्रतिस्पर्धात्मक संघवाद का वर्तमान ढांचा केंद्र और राज्यों के बीच गहरे विरोधाभासों और संरचनात्मक चुनौतियों से भरा हुआ है। इसके एक पक्ष में नीति आयोग और जीएसटी राज्यों को एक एकीकृत बाजार में प्रतिस्पर्धा करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं, तो दूसरे पक्ष में, यह उपकर और अधिभार की सहायता से वित्तीय संसाधनों का केंद्रीयकरण किया जा रहा है। इसके अलावा

राज्यपालों की सक्रिय भूमिका राज्यों की स्वायत्तता को सीमित कर रही है। इस स्थिति के कारण सहकारी प्रतिस्पर्धा के बजाय संघर्षपूर्ण संघवाद सामने आ रहा है। विशेष रूप से, 15वें वित्त आयोग के आवंटन के तरीके और 2026 में होने वाले परिसीमन को लेकर दक्षिणी राज्यों की चिंताएँ वास्तविक हैं। क्योंकि वे राज्य अपनी प्रगतिशील अस्मिता (जनसंख्या नियंत्रण और शिक्षा) के कारण अपने आप को दंडित महसूस करते हैं। यदि राजनीतिक प्रतिनिधित्व और वित्तीय संसाधनों में केंद्र सरकार के द्वारा संतुलन नहीं बनाया गया, तो यह उत्तर-दक्षिण विभाजन, भारतीय संघ की भावनात्मक एकता के लिए खतरा के रूप में दिखाई पड़ रहा है।

निष्कर्षत, भारतीय संघवाद की भविष्य की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि वह इस नई प्रतिस्पर्धात्मकता को सहयोग के साथ किस प्रकार से संतुलित किया जाता है। इसके लिए अंतर-राज्य परिषद जैसे संवैधानिक मंचों को पुनर्जीवित करना और वित्तीय संसाधनों का न्यायसंगत वितरण को सुनिश्चित करना अनिवार्य है। केंद्र सरकार को यह स्वीकार करना चाहिए कि एक राष्ट्र का तात्पर्य एक नीति होना नहीं है, क्योंकि भारत जैसे राज्य-राष्ट्र की शक्ति इसकी विविधता में ही निहित है। एक शक्तिशाली भारत राष्ट्र का निर्माण केवल तभी संभव है, जब सभी राज्य सशक्त होंगे। अतः क्षेत्रीय अस्मिता को दबाने के स्थान पर इसे राष्ट्रीय विकास के रूप में स्वीकार करना ही भारतीय संघवाद का भविष्य है।

संदर्भ सूची

1. Aiyar, Y., & Tillin, L. (2020). 'Cooperative' federalism? The interaction of state and central power in the Modi years. *Contemporary South Asia*, 28(2), 191–206.
2. Arora, B. (2010). The federal coalition: The Government and the party system. In K. Adeney & L. Saez (Eds.), *Coalition Politics and Hindu Nationalism* (pp. 55–76). Routledge.
3. Austin, G. (1966). *The Indian Constitution: Cornerstone of a Nation*. Oxford University Press.
4. Chanda, A. (1965). *Federalism in India: A Study of Union-State Relations*. George Allen & Unwin.
5. Constituent Assembly Debates. (1948). *Official Report* (Vol. 7). Lok Sabha Secretariat.
6. Dua, B. D. (1979). Presidential Rule in India: A Study in Crisis Politics. *Asian Survey*, 19(6), 611–626.
7. Dye, T. R. (1990). *American Federalism: Competition Among Governments*. Lexington Books.
8. Haokip, T. (2012). Political integration of Northeast India: A historical analysis. *Strategic Analysis*, 36(2), 304–314.
9. Hardgrave, R. L. (1984). India in 1983: New Challenges, Lost Opportunities. *Asian Survey*, 24(2), 209–218.
10. Jha, P. (2018). *How the BJP Wins: Inside India's Greatest Election Machine*. Juggernaut Books.
11. Kothari, R. (1964). The Congress 'system' in India. *Asian Survey*, 4(12), 1161–1173.
12. Mooij, J. (2017). The 'Gujarat Model' of development: What is it and what are its implications? *Journal of South Asian Development*, 12(2), 202–215.
13. Morris-Jones, W. H. (1967). *The Government and Politics of India*. Hutchinson.
14. Rajan, M. G. (2019). *The Third Pillar: How Markets and the State Leave the Community Behind*. HarperCollins.
15. Rao, M. G., & Singh, N. (2005). *Political Economy of Federalism in India*. Oxford University Press.
16. Reddy, Y. V. (2020). *Indian Fiscal Federalism*. Oxford University Press.
17. Rudolph, L. I., & Rudolph, S. H. (2001). Iconisation of Chandrababu: Sharing sovereignty in India's federal market economy. *Economic and Political Weekly*, 36(18), 1541–1552.
18. Saez, L. (2002). *Federalism without a Centre: The Impact of Political and Economic Reform on India's Federal System*. Sage Publications.
19. Sarangi, A. (2016). *Linguistic Politics and State Reformation in India*. Routledge India.

20. Sarkaria Commission Report. (1988). *Report of the Commission on Centre-State Relations*. Government of India.
21. Sharma, C. K. (2011). Beyond gaps and imbalances: Re-structuring the debate on intergovernmental fiscal relations in India. *Public Administration Review*, 71(1), 87–98.
22. Singh, N. (2016). Fiscal federalism in India. In S. Ganguly, L. Diamond, & M. F. Plattner (Eds.), *The State of India's Democracy* (pp. 145–165). Johns Hopkins University Press.
23. Sinha, A. (2005). *The Regional Roots of Developmental Politics in India: A Divided Leviathan*. Indiana University Press.
24. Stepan, A. (1999). Federalism and democracy: Beyond the US model. *Journal of Democracy*, 10(4), 19–34.
25. Tillin, L. (2013). *Remapping India: New States and their Political Origins*. Hurst & Company.
26. Wheare, K. C. (1964). *Federal Government* (4th ed.). Oxford University Press.
27. World Bank. (2017). *India Development Update: Unlocking Women's Potential*. World Bank Group.
28. Wyatt, A. (2013). Populism and politics in contemporary Tamil Nadu. *Contemporary South Asia*, 21(4), 365–381.
29. Yadav, Y. (1999). Electoral politics in the time of change: India's third electoral system, 1989-99. *Economic and Political Weekly*, 34(34/35), 2393–2399.